मन्त्रयोग

मन्त्रयोग साधना की सुगम रीति मानी गयी है। पतञ्जलि ने भी मन को वश में करने के लिये अन्य साधनों के अलावा मन्त्रयोग को स्वीकार किया है।

मन्त्रयोग के सिद्धान्तानुसार परमात्मा से भाव, भाव से नामरूप और उसका विकार एवं यह विलासमय संसार पैदा हुआ है। अत: जिस क्रम से संसार की सृष्टि हुई है उसके विपरीत क्रम से ही इसका लय होगा। अर्थात् परमात्मा से भाव और भाव से नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धन में आ गये हैं, तो इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिये भी नामरूप का आश्रय लेकर नामरूप से भाव में तथा भाव से भावग्राही परमात्मा में चित्तवृत्ति को मिलाने पर ही मुक्ति होगी। नाम-रूप का आलम्बन लेकर की जाने वाली साधना-विधि को मन्त्रयोग कहते हैं।

सृष्टि के नाम-रूपात्मक होने के कारण ही साधक नाम एवं रूप का अवलम्बन कर सृष्टि के बन्धन से छूट कर मुक्ति पद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमि पर मनुष्य गिरता है, उसी भूमि के अवलम्बन से वह पुन: उठ सकता है। नाम-रूपात्मक विषय जीव को बन्धन-युक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभव से जीव अविद्याग्रस्त रहते हैं। अत: अपनी-अपनी प्रकृति तथा प्रवृत्ति के अनुसार नाममय शब्द एवं भावमय रूप का अवलम्बन कर इस साधना से व्यक्ति अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकता है।

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्। बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिप्राप्नोति साधकः।।।

तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते। उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्य-क्षेणैतत्समीक्ष्यते।।

नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जना। अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक प्रकृति वै भवत्।।

आत्मनः सूक्ष्म प्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै। नामरूपात्मनो शब्द भावयोरवलम्बनात्।।

(मन्त्रमहोदधिः, प्रस्तावना, पृ. 17)

मन्त्रयोग के अंग

हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा, यन्त्रपूजा, पीठपूजा एवं तान्त्रिक साधना मन्त्रयोग के अनुसार ही होती है। इस योग के मुख्यतया 16 अंग स्वीकार किये गये हैं :

भविन्त मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कला षोडशशोभना।।
भक्ति शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।

आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि।।
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडशः।। (वही पृ. 18)

अर्थात्–चन्द्रमा की 16 कलाओं के समान मन्त्रयोग के भी 16 अंग होते हैं। ये इस प्रकार हैं– (1) भक्ति,(2) शुद्धि,(3) आसन,(4) पञ्चागसेवन,(5) आचार,(6) धारणा,(7) दिव्यदेशसेवन (8) प्राणक्रिया,(9) मुद्रा,(10) तर्पण,(11) हवन,(12) बलि,(13) याग,(14) जप,(15) ध्यान और (16) समाधि।

उपर्युक्त सभी अंगों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

1. भक्ति

इष्टदेव में परम अनुराग या प्रेम[1] को भक्ति कहते हैं(**'देवे परोऽनुरागस्तु भक्तिः सम्प्रोच्यते बुधैः'**)। भक्ति 3 प्रकार की होती है : (1) वैधी, (2) रागात्मिका तथा (3) परा। शास्त्रीय विधि एवं निषेध द्वारा निर्णीत धीर साधकों के द्वारा अपनायी गयी भक्ति वैधी कहलाती है। जिस भक्ति के रस का आस्वादन कर साधक भाव–सागर में डूब जाता है, उसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं। परम आनन्ददायक भक्ति को पराभक्ति कहते हैं।

विधिना या विनिर्णीता निषेधेन तथा पुनः।
साध्यमाना च या धीरैः सा वैधीभक्तिरुच्यते।।
ययास्वाद्य रसान्भक्तेर्भावे मज्जति साधकः।
रागात्मिका सा कथिता भक्ति योगविशारदैः।।
परानन्दप्रदा भक्ति पराभक्तिर्मता बुधैः।। (मन्त्रमहोदधिः, प्रस्तावना, पृ. 18)

तात्पर्य यह है कि इष्टदेव के प्रति भाव या अनुराग पैदा होने से पहले केवल शास्त्राज्ञा मानकर जो भजन में प्रवृत्ति होती है उसका नाम वैधीभक्ति है। जबतक भाव पैदा नहीं हो जाता तबतक वैधीभक्ति रहती है, परन्तु इष्टदेव के प्रति भाव पैदा होते ही वह रागात्मिका भक्ति कहलाती है। यह रागात्मिका भक्ति दो प्रकार की होती है–कामरूपा एवं सम्बन्धरूपा। जिस भक्ति की प्रत्येक चेष्टा केवल अपने आराध्यदेव के सुख के लिये होती है, अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूप में परिणत हो गया हो उसे कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। जिस भक्ति में 'मैं अपने इष्टदेव का पुत्र, पिता या प्रियतम हूँ' इस प्रकार की बुद्धि हो उसे सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। विभिन्न आचार्यों ने भक्ति के अनेक भेद एवं उपभेद स्वीकार किये हैं। उन सबकी विस्तृत चर्चा यहाँ संभव नहीं है।

---

1. **'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा'** – भक्तिसूत्र

2. शुद्धि

निर्मलता को शुद्धि कहा जाता है। मन्त्रसाधना में चार प्रकार की शुद्धियों पर बल दिया गया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं–कायशुद्धि, चित्तशुद्धि, दिक्शुद्धि एवं स्थान–शुद्धि।

स्थानशुद्धिश्च दिक्शुद्धिर्बाह्यशुद्धिस्तथैव च।
अन्तः शुद्धिरिति प्रोक्तास्ताश्चतस्रो यथाक्रमम्।।

(मन्त्रमहोदधिः, प्रस्तावना, पृ. 19 पादटिप्पणी)

कायशुद्धि :– स्नान के द्वारा शरीर शुद्ध होता है। मल के प्रक्षालन को स्नान कहते हैं। अतः स्नान से शरीर निर्मल बनता है। यह स्नान 7 प्रकार का माना गया है। मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण एवं मानस।

'आपोहिष्ठा भुवः०' इत्यादि मन्त्रों से मार्जन करने को मान्त्रस्नान, उबटन या लेप इत्यादि लगाकर रगड़–रगड़ कर स्नान करने को भौम, भस्मलेपन करने को आग्नेय स्नान, गायों के खुरों से उड़ी धूलि से स्नान करने को वायव्य, धूप या वर्षा से स्नान करने को दिव्य, जल में गोता लगाकर स्नान करने को वारुण तथा भगवान् का स्मरण मानस–स्नान कहलाता है। उक्त रीतियों से स्नान द्वारा काया शुद्ध हो जाती है।

चित्तशुद्धि :– अभय, राग–द्वेषरहितता, ज्ञानयोग, दम, दान, यज्ञ, वेद–शास्त्रों का स्वाध्याय, तप, नम्रता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपिशुनत्व, दया, मृदुता, अचपलत्व, तेज, क्षमा, आदि–ये सब चित्त को शुद्ध करते हैं।

दिक्शुद्धि :– दिक्शुद्धि के द्वारा साधक का मन वश में होता है तथा उसे साधना में सिद्धि मिलती है। दिन में पूर्वाभिमुख होकर तथा रात्रि में उत्तराभिमुख होकर जप एवं देवपूजन करना चाहिये। काम्य प्रयोगों में बतलायी गयी तत्तद् दिशा की ओर मुँह करके जप आदि करना चाहिये–इसे ही दिक्शुद्धि कहते हैं।

3. आसन

मन्त्रसिद्धि के लिये रेशम, कम्बल, कुशा, बाघाम्बर एवं मृगचर्म का आसन उत्तम होता है। काम्य प्रयोगों में कम्बल का–विशेषकर लाल कम्बल का आसन श्रेष्ठ होता है। कृष्णाजिन के आसन से ज्ञानसिद्धि, बाघाम्बर से मोक्ष, कुशासन से दीर्घायु तथा रेशमी आसन से व्याधिनाश होता है।

सकाम एवं निष्काम कर्मों के भेद से तथा कामना के तारतम्य से आसन का निर्णय किया जाता है। जैसे–शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण आदि कर्मों में क्रमशः पद्मासन, स्वस्तिकासन, विकटासन, कुक्कुटासन, वज्रासन एवं भद्रासन लगाकर जप–पूजनादि करना चाहिये(मन्त्रमहोदधिः तरंग 25/15–16)। निष्काम कर्मों में पद्मासन एवं स्वस्तिकासन उपयोगी माना गया है।

काम्य प्रयोगों में रेशम, कुश एवं कम्बल के आसन पर बैठ कर **'पृथिवी त्वया धृता०'** मन्त्र से आसन का पूजन कर प्रयोग के अनुसार पद्मासन आदि लगाकर जप, पूजन एवं पुरश्चरण करना चाहिये।

4. पञ्चाङ्गसेवन

गीता, सहस्त्रनाम, स्तव, कवच एवं हृदय इन पाँचों को पञ्चाङ्ग कहते हैं। अपने-अपने सम्प्रदाय की गीता का स्वाध्याय, मनन एवं चिन्तन करने से, सहस्त्रनाम का पाठ करने से तथा अपनी कल्पोक्त पद्धति के अनुसार स्तोत्र, कवच एवं हृदय का पाठ करने से साधक पापरहित होकर सिद्धि प्राप्त करता है।

गीता सहस्त्रनामानि स्तवः कवचमेव च।
हृदयं चेति पञ्चेते पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः।।
स्वोपासनानुसारेण गीतायाः पठनाद् ध्रुवम्।
सहस्त्रनामाध्ययनात्स्वपद्धत्यनुसारतः।।
स्तोत्रस्य कवचस्यापि हृदयस्य च पाठतः।
योगसिद्धिमवाप्नोति योगी विगतकल्मषः।। (मन्त्रमहोदधिः, प्रस्तावना पृ. 21)

पंचदेवोपासना में श्रीमद्भगवद्गीता, गणेशगीता, भगवतीगीता, सूर्यगीता तथा शिवगीता-ये पाँच गीतायें मानी गयीं हैं, तथा विष्णुसहस्त्रनाम, गणेशसहस्त्रनाम, दुर्गासहस्त्रनाम, सूर्यसहस्त्रनाम तथा शिवसहस्त्रनाम-ये पाँच सहस्त्रनाम स्वीकार किये गये हैं। इन पाँच देवताओं के स्तव, कवच एवं हृदय अनेक प्रकार के मिलते हैं। उनमें जो स्तव आदि अपने सम्प्रदाय में प्रचलित हों अथवा गुरु के द्वारा उपासना भेद के अनुसार निर्दिष्ट हों, उनका प्रतिदिन पाठ करना चाहिये।

5. आचार

मन्त्रसाधना में मुख्यतया तीन प्रकार के आचार माने गये हैं-वामाचार, दक्षिणाचार तथा दिव्याचार। वाम एवं दक्षिण आचार परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक ही लक्ष्य पर ले जाते हैं। इनमें भेद यह है कि वामाचार प्रवृत्तिमूलक तथा दक्षिणाचार निवृत्तिमूलक है। प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जानेवाले आचार को दिव्याचार कहते हैं। दिव्याचार उक्त दोनों आचारों से अविरुद्ध तथा सब जीवों के लिये हितकर है। साधक को अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार आचार का निर्धारण करना चाहिये तथा गुरु को शिष्य की प्रकृति, अभिरुचि एवं शक्ति का विचार कर काम्य एवं निष्काम उपासना के भेद पर ध्यान देकर आचार का उपदेश देना चाहिये।

6. धारणा

बाह्य एवं आभ्यान्तर भेद से धारणा दो प्रकार की होती है। बाह्य वस्तुओं के साथ मनोयोग

होने से बहिर्धारणा एवं अन्तर्जगत् के सूक्ष्म द्रव्यों के साथ मनोयोग होने से अन्तर्धारणा बनती है। धारणा की सिद्धि हो जाने पर मन्त्रसाधक को ध्यानसिद्धि एवं मन्त्रसिद्धि दोनों मिल जाती हैं। धारणा की सिद्धि से भक्ति, आचार, जपसिद्धि, प्राणसंयम, इष्टदेव का साक्षात्कार, दिव्यदेशों में देवशक्ति का विकास तथा इष्टदेव का दर्शन – ये सब प्राप्त होते हैं। अतः धारणासिद्धि की स्थूल एवं सूक्ष्म सभी प्रक्रियाओं को योगमर्मज्ञ गुरु से विधिवत् सीखकर मन्त्र-साधना करनी चाहिये।

7. दिव्यदेश – सेवन

तन्त्रों में वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुण्ड, पट, मण्डल, विशिखा, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय एवं मूर्धा-इन 16 को दिव्यदेश कहा गया है। साधक को अपने अधिकार के अनुसार दिव्यदेश में पूजा एवं उपासना करनी चाहिये। धारणा की सहायता से दिव्यदेश में इष्टदेव का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार गाय के पूरे शरीर में रहनेवाला दूध केवल उसके थनों से ही निकलता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा भी दिव्यदेश में अपना सूक्ष्मरूप छोड़कर साधक के सामने प्रकट हो जाता है।

8. प्राणक्रिया

मन, प्राण एवं वायु में अभेद सम्बन्ध माना गया है तथा वायु एवं प्राण में कार्य-कारण का सम्बन्ध। इसलिये प्राणायामपूर्वक मन्त्रोक्त न्यासों को करना चाहिये। योग एवं तन्त्र में प्राणायाम के अनेक भेद प्रचलित हैं उनमें से साधक को अपने सम्प्रदाय एवं गुरु परम्परा के अनुसार प्रचलित प्राणायाम का अभ्यास कर लेना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि सामान्य साधक को सहज प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

यद्यपि तन्त्रशास्त्र में असंख्य न्यासों का वर्णन किया गया है, किन्तु उनमें से 7 न्यास मुख्य हैं। साधक को ये न्यास अपने गुरु से सीख लेना चाहिये। साधारण उपासना या मन्त्रजप में केवल करन्यास एवं अंगन्यास करना चाहिये। विस्तृत पूजन या पुरश्चरण आदि में इनके अलावा ऋषि आदि का न्यास, अन्तर्मातृकान्यास, बहिर्मातृकान्यास, वर्णन्यास एवं षोढान्यासों को भी करना चाहिये।

9. मुद्रा

तन्त्र में मुद्रा शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि 'मुद्रा' शब्द का प्रथम अक्षर देवताओं की प्रसन्नता का तथा दूसरा अक्षर पापक्षय का सूचक है। इस प्रकार मुद्रा के प्रभाव से देवता प्रसन्न होते हैं तथा साधक पापरहित होता है।

पूजन, जप, काम्यप्रयोग, स्नान, हवन, विशेषार्घ्य स्थापन एवं नैवेद्य निवेदन आदि के समय अपने कल्पग्रन्थों में बतलाये गये लक्षणों की मुद्राएँ बनाकर दिखलानी चाहिये। आवाहन आदि की

9 मुद्राएँ, पूजन की गन्ध आदि मुद्राएँ तथा षडङ्गन्यास की मुद्राओं का साधारणतया सभी मन्त्रों के जप-पूजनादि में प्रयोग करना चाहिये। स्नान में अंकुश आदि मुद्राओं से तीर्थों का आवाहन करना चाहिये।

शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण-इन काम्यप्रयोगों में क्रमशः पद्म, पाश, गदा, मुसल, वज्र एवं खड्ग मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये।

हवन में मृगी, हंसी एवं सूकरी आदि मुद्राओं का प्रयोग करना चाहिये। शान्तिक- पौष्टिक कर्मों के हवन में मृगीमुद्रा से, वशीकरण आदि में हंसी मुद्रा से तथा स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण में सूकरी मुद्रा से आहुतियाँ डालनी चाहिये।

देवताओं को कुछ मुद्राएँ विशेष प्रिय होती हैं, जिन्हें जप-पूजन के समय दिखाकर साधक देवताओं को प्रसन्न कर सकता है। उदाहरणास्वरूप-

विष्णु की प्रिय मुद्राएँ :- शंख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरूड़, नारसिंही, वाराही, हायग्रीवी, धनु, बाण, परशु, जगन्मोहनिका एवं काम-ये 19 मुद्राएँ विष्णु को प्रिय हैं।

शिव की प्रिय मुद्राएँ :- लिंग, योनि, त्रिशूल, माला, वर, मृग, अभय, खट्वाङ्ग, कपाल एवं डमरू-ये 10 मुद्राएँ शिव को प्रिय हैं।

गणेश की प्रिय मुद्राएँ :- दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशु, लड्डूक एवं बीजपूर-ये 7 मुद्राएँ गणेश को प्रिय हैं।

दुर्गा की प्रिय मुद्राएँ :- पाश, अंकुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनुष, बाण तथा मौशली-ये 9 मुद्राएँ दुर्गा को प्रिय हैं।

तन्त्रोक्त पंचमकार में मुद्रा सबसे श्रेष्ठ है। मुद्रा में आसन, प्राणायाम, धारणा एवं ध्यान आदि सभी क्रियाओं का सम्मिश्रण है। मन्त्रसाधना में उपयोगी उक्त मुद्राओं के अलावा तन्त्रग्रन्थों में ऐसी अनेक मुद्राओं का विवेचन किया गया है जिनकी सहायता से जीव शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।[1]

10. तर्पण

तर्पण करने से देवता शीघ्र सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होता है। अतः उसे सन्तुष्ट करने की विधि को तर्पण कहते हैं। यह तर्पण सकाम एवं निष्काम भेद से दो प्रकार का होता है। सकाम-तर्पण में तत्तद् द्रव्यों से तथा निष्काम-तर्पण में केवल जल से तर्पण किया जाता है। तर्पण मन्त्रसाधना का

1. इन विषयों की विस्तृत जानकारी के लिये घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, दत्तात्रेयसंहिता तथा ग्रहयामल आदि ग्रन्थ देखें।

एक मुख्य अंग माना गया है।

मधु से तर्पण करने से सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, मन्त्र सिद्ध होते हैं तथा महापातक भी नष्ट हो जाते हैं। कपूर मिला जल से तर्पण करने पर राजा तथा हल्दी मिश्रित जल से तर्पण करने पर सामान्य व्यक्ति वश में हो जाता है। घी के तर्पण से दीर्घायु, दूध से आरोग्य, अगर मिश्रित जल से सुख, नारियल के जल से सर्वार्थसिद्धि, मिर्च मिला जल से शत्रुओं का नाश तथा गुनगुने जल के तर्पण से शत्रुओं का उच्चाटन हो जाता है।

साधक को स्नान, पूजन एवं हवन के समय प्रतिदिन तर्पण करना चाहिये। तर्पण करते समय देव, ऋषि, पितर, इष्टदेव एवं उसके आवरण देवताओं का कल्पोक्तरीति से तर्पण करना चाहिये।

11. हवन

जप के बिना मन्त्र सिद्ध नहीं होता तथा हवन के बिना वह फल नहीं देता।[1] अतः अभीष्ट फल की प्राप्ति हेतु साधक को श्रद्धापूर्वक हवन करना चाहिये। काम्य एवं निष्काम दोनों प्रकार के प्रयोगों में हवन किया जाता है। काम्य प्रयोगों में तत्तद् द्रव्यों से तथा निष्काम प्रयोगों में यथा उपलब्ध द्रव्यों से हवन किया जाता है।

काम्य प्रयोगों में अग्नि, समिधा, कुण्ड, दिशा एवं हवनद्रव्यों का यथावत् होना अनिवार्य है। शान्ति एवं वश्य में लौकिक अग्नि में, स्तम्भन में वटवृक्ष के काष्ठ में मन्थन से उत्पन्न अग्नि में, विद्वेषण में बहेड़े की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि में तथा उच्चाटन एवं मारण में श्मशान(चिता) की अग्नि में हवन करना चाहिये। शुभ कार्यों में बेल, आम, ढाक, एवं दूधवाले वृक्षों (वट, पीपल, पाकड़ आदि) की समिधा आदि से तथा अशुभ कार्यों में कुचिला, बहेड़ा, नीबू एवं धतूरा आदि की समिधाओं से अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये। शान्ति में पश्चिम दिशा में वृत्ताकार, वशीकरण में उत्तर दिशा में पद्माकार, स्तम्भन में पूर्व दिशा में चतुर्भुजाकार, विद्वेषण में नैर्ऋत्य कोण में त्रिभुजाकार, उच्चाटन में वायव्यकोण में षड्कोणाकार तथा मारण में दक्षिण दिशा में अर्द्धचन्द्राकार कुण्ड या स्थण्डिल बनाना चाहिये।

पूजन एवं बलि देने के बाद साधक को हवन करना चाहिये। अर्घ्योदक से कुण्ड या स्थण्डिल का प्रोक्षण कर उस पर 3 रेखाएँ खींचनी चाहिये। तदनन्तर अग्नि लाकर **'क्रव्यादेभ्यो नमः'** तथा मूलमन्त्र बोलकर अग्नि को स्थापित करना चाहिये। तत्पश्चात् स्वाहान्त व्याहृतियों से 3 आहुतियाँ देकर षडङ्ग होम करना चाहिये। तदनन्तर अग्नि में इष्ट देवता का आवाहन कर मूलमन्त्र से विधिवत् हवन करना चाहिये।

---

1. **नो सिद्ध्यत्यजपान्मन्त्रो नाहुतश्चफलप्रदः।** (मन्त्रमहोदधिः, प्रस्तावना, पृ. 25 की पादटिप्पणी से)

12. बलि

देवता के लिये द्रव्य का समर्पण बलिदान कहलाता है। बलिदान करने से विघ्नों की शान्ति होती है तथा साधक निरापद होकर साध्य या सिद्धि को प्राप्त करता है। अत: अन्तर्याग एवं बहिर्याग दोनों में ही बलि की अनिवार्यता मानी गयी है।

अन्तर्याग में आत्मबलि को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसके करने से साधक का अहंकार नष्ट हो जाता है और फिर वह अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। बलिदानों में काम, क्रोध आदि शत्रुओं की बलि देना दूसरे स्थान पर माना गया है।

बहिर्याग में अपने इष्टदेव का पूजन करने के बाद बलि-द्रव्यों से बलिदान देना चाहिये। तन्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में अन्न, फल, फूल, धूप, दीप एवं यज्ञपशु आदि की बलि देने की भिन्न-भिन्न परम्पराएँ प्रचलित हैं। बलिद्रव्य का निर्णय देवता के स्वभाव एवं उसकी रुचि के अनुसार तथा कामना के भेद एवं तारतम्य के अनुसार करना चाहिये। दक्षिणाचार में हिंसा निषिद्ध होने के कारण पशुओं की बलि वर्जित है।

इष्टदेव को बलि देने के बाद अवशिष्ट द्रव्य से अन्य देवताओं को बलि देनी चाहिये। घर के भीतर ब्रह्मा तथा विश्वेदेवताओं तथा पूर्वोत्तर में धन्वन्तरि को बलि दी जाती है। इन्द्रादि देवताओं को उनकी दिशाओं में, गणेश, क्षेत्रपाल, बटुक एवं योगिनियों को यन्त्र के द्वारों पर, धाता एवं विधाता को पूजागृह के द्वार पर , अर्यमा एवं ग्रहों को चारों ओर, निशाचरों को आकाश में तथा पितरों को दक्षिण में बलि देनी चाहिये। साधक को आचमन करने के बाद हाथ में जल लेकर तत्तद् स्थानों पर तत्तद् देवताओं को बलि देनी चाहिये।

13. याग

इष्टदेव के पूजन को याग कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है-अन्तर्याग तथा बहिर्याग। अन्तर्याग में अपने देहमयपीठ पर पीठदेवता, पीठशक्तियों एवं आवरण देवताओं के साथ मानसोपचारों से इष्टदेव का पूजन किया जाता है। फिर आधारचक्र से सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान परमशिव के पास ले जाकर वहाँ से टपकनेवाली अमृत धाराओं से इष्टदेव(शिव) को तृप्त कर मन्त्रार्थ की भावना के साथ जप किया जाता है। सभी प्रकार के पूजनों में अन्तर्याग की महिमा सर्वोपरि है। इसके लिये देश, काल एवं शरीर की शुद्धि आवश्यक नहीं है, तथा इसे सदैव कर सकते हैं।

अन्तर्यागस्य महिमा सर्वश्रेष्ठः प्रकीर्तितः।
नापेक्षिता देशशुद्धिर्नापि कालशरीरयोः।।
योगे जपे मानसे वै तथा कर्मणि निश्चितम्।
सर्वदा शक्यते कर्तुं मानसी निखिला क्रिया।।

(मन्त्रमहोदधिः, प्रस्तावना पृ. 27 की पादटिप्पणी)

अन्तर्याग की सिद्धि से जपसिद्धि, उससे ध्यानसिद्धि, उससे समाधिसिद्धि और उससे देव का साक्षात्कार होता है।

पीठ, विग्रह एवं यन्त्र आदि का विधिवत पूजन बहिर्याग कहलाता है। इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिये भावों के साथ विविध उपचारों के समर्पण को पूजन कहते हैं। उपचार कई प्रकार के होते हैं, जैसे-पंचोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार आदि।

शास्त्रों में बहिर्याग के पाँच उपकरण बतलाये गये हैं- अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग। देवस्थान को साफ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना आदि कार्यों को अभिगमन कहते हैं। पूजा के उपचारों का संग्रह उपादान कहलाता है। विविध उपचारों से इष्टदेव के पूजन को इज्या कहते हैं। मन्त्रार्थ की भावना के साथ जप करना, सूक्त, स्तोत्र आदि का पाठ करना या नाम, गुण एवं लीला का कीर्तन करना – यह सब स्वाध्याय कहलाता है। साधक, साधन एवं साध्य तीनों में अभेद बुद्धि रखने को योग कहते हैं।

गृहस्थ साधक को अन्तर्याग एवं बहिर्याग दोनों करने चाहिये जबकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं यति को केवल अन्तर्याग ही करना चाहिये।

अन्तर्यागबहिर्यागो गृहस्थः सर्वमाचरेत्।
आद्यमेव ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिस्तथा।। (मन्त्रमहोदधिः 22/25)

काम्य प्रयोगों में अन्तर्याग एवं बहिर्याग दोनों को करना अनिवार्य बतलाया गया है। जबकि निष्काम प्रयोगों में स्वेच्छया कोई एक याग या दोनों याग कर सकता है।

14. जप

मन्त्र की बार-बार आवृत्ति करने को जप कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है – मानसिक, उपांशु एवं वाचिक। वाचिक जप का फल यज्ञतुल्य होता है। इसकी अपेक्षा उपांशुजप सौ गुना तथा उसकी अपेक्षा मानसिकजप हजार गुना अधिक फलदायी होता है। सिद्धि के लिये मानसिकजप, पुष्टि के लिये उपांशुजप तथा मारण आदि क्रूर कर्मों के लिये वाचिकजप करना चाहिये।

15. ध्यान

मन्त्रसाधना में ध्यान भाव-प्रधान होता है। कारण यह है कि कारण एवं कार्यब्रह्म दोनों ही भावमय होते हैं। कार्यब्रह्म को हम भावमय तो देखते ही हैं परन्तु मन एवं वाणी से अगोचर कारणब्रह्म केवल भावगम्य होता है।

जिस प्रकार मन्त्र शब्द से सम्बद्ध होता है, उसी प्रकार शब्द अर्थ से, अर्थ भाव से और भाव रूप से सम्बद्ध होता है। इसीलिये प्रत्येक मन्त्र का एक विशेष अर्थ, भाव एवं रूप होने के कारण

उसका ध्यान भी विशिष्ट होता है। यही कारण है कि मन्त्रशास्त्र में प्रत्येक मन्त्र के ध्यान का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि कार्यब्रह्म के नाम, रूप एवं भाव अनन्त होने के कारण मन्त्रयोग में अनन्त मन्त्र तथा ध्यानों का वर्णन किया गया है।

भेद और अभेद दोनों ही निष्ठाओं में या निराकार एवं साकार दोनों की ही उपासना में ध्यान सबसे आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण साधन है। ध्यान के अनेक प्रकारों में से साधक को अपनी रुचि भावना एवं अधिकार के अनुसार इष्टदेव का ध्यान करना चाहिये। साधक को यह स्मरण रखना चाहिये कि एक ही परमात्मा के अनेक दिव्य स्वरूप हैं। उनमें से किसी एक का आश्रय लेकर उसके स्वरूप को समझकर परमात्मा को जाना जा सकता है। भगवान् के परमभाव को समझकर उनके किसी भी रूप का अगर ध्यान किया जाय तो अन्त में उस एक ही भगवान् की प्राप्ति होगी जो एकमात्र चरम सत्य है। अत: साधक को इधर-उधर मन न भटकाकर अपने इष्टदेव में समस्त श्रद्धा एवं भक्ति रखते हुए प्रारम्भ में मन्त्रार्थभाव से और आगे चलकर परमभाव से उसी का ध्यान करना चाहिये।

मन्त्रयोग एवं तन्त्रशास्त्र के अनुसार विष्णु की उपासना में 7 प्रकार का, शक्ति की उपासना में 24 प्रकार का, शिव की उपासना में 5 प्रकार का तथा सूर्य एवं गणपति की उपासना में 2-2 प्रकार का ध्यान प्रमुख रूप से बतलाया गया है।

मन के द्वारा इष्टदेव के स्वरूप को जानना ध्यान कहलाता है। (**ध्यानं इष्टस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु**। मन्त्रमहोदधि:, प्रस्तावना पृ. 30)। प्रारंभ में मन, मन्त्र एवं देवता की पृथक्-पृथक् अनुभुति होती है। ध्यान के अभ्यास द्वारा इन तीनों में एकरूपता का बोध होता है।

16. समाधि

जिस प्रकार लययोग की समाधि महालय तथा हठयोग की समाधि महाबोध मानी जाती है, उसी प्रकार मन्त्रयोग की समाधि को महाभाव कहते हैं। मन, मन्त्र एवं देवता इन तीनों की जबतक पृथक्-पृथक् सत्ता रहती है तबतक उसे ध्यान कहा जाता है। इन तीनों के एक भाव में मिलते ही समाधि प्रारम्भ होती है, जिससे महाभाव उत्पन्न होता है।

मन का मन्त्र में तथा मन्त्र का देवता में लय कर-इस रीति से त्रिपुटी का नाश कर साधक समाधि प्राप्त करता है। समाधि में साधक अपने अस्तित्व को भूल जाता है और वह स्वयं इष्टमय हो जाता है।

(यह लेख शुकदेव चतुर्वेदी द्वारा अनुवादित तथा प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी द्वारा 1981 में प्रकाशित 'मन्त्रमहोदधि:' पर आधारित है।)

❀❀❀❀❀❀